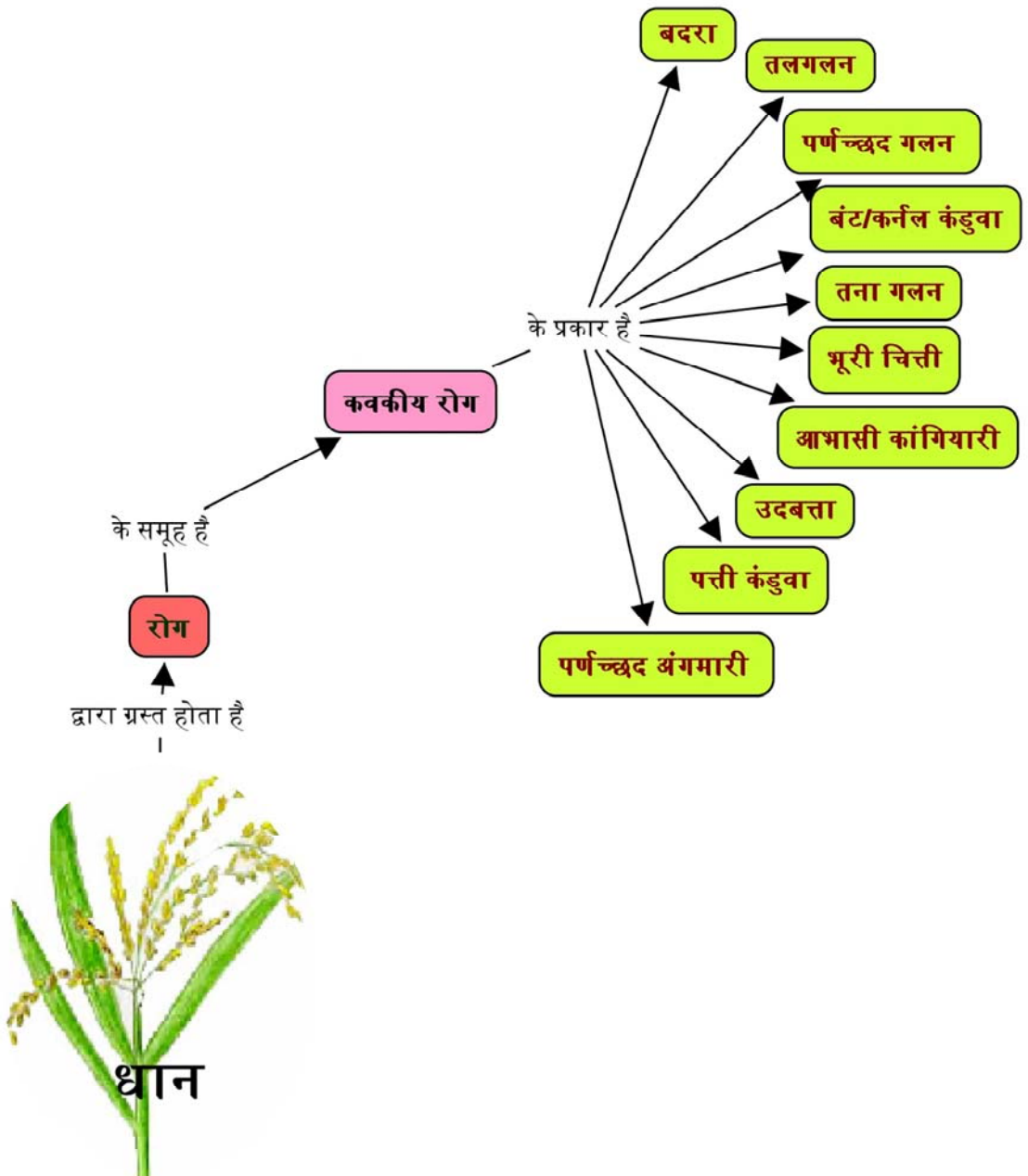




www.agropedia.net

धान की संरक्षण तकनीक का ज्ञान माडल



धान के रोग एवं उनसे बचाव

प्रकृति पृथ्वी पर सैदव ही जैव-संतुलन बनाए रखने का प्रयास करती है, परन्तु मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इस संतुलन को प्रायः नष्ट करने पर उद्यत दिखाई देता है। पिछले तीन दशकों में बढ़ती जनसंख्या की उदर-पूर्ति के लिए खाद्यान्न उत्पादन के नये आयाम बनाए गये। धान फसल का इसमें सार्थक आयाम बनाए गये। धान फसल का इसमें सार्थक योगदान रहा। उन्नत बौनी किस्मों को उच्च निवेश-स्तर के साथ उगाने से जहाँ अधिक उत्पादन प्राप्त हुआ, वहीं कीट-व्याधियों को भी अनुकूल वातावरण मिला, इस कारण वर्तमान में धान-उत्पादकों को इन समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। इन व्याधियों के कारण जितनी अधिक उपज में गिरावट होती है, उतना ही इनके नियंत्रण की ओर ध्यान देना आवश्यक हो गया है।

नाइट्रोजन की अधिक मात्रा उपयोग करने से धान पर जीवाणुज पत्ती अंगमारी, तनागलन, बदरा एवं आभारी कांगियारी आदि रोगों का प्रकोप बढ़ता है। उत्तरी-पश्चिमी भारत में पाया गया कि १५ जुलाई से पहले की रोपाई में बदरा एवं बंट का प्रकोप कम होता है, जबकि देर से रोपाई करने पर आभासी कांगियारी का संक्रमण घटता है। यही नहीं किस्मों में भी रोग-रोधिता स्तर में भिन्नता है। हरियाणा कृषि विश्विद्यालय के कौल केन्द्र पर विभिन्न बासमती किस्मों में बदरा का प्रकोप ९.७ से ५१.४ प्रतिशत अनुमानित किया गया। चंद आदि (१९८५) ने धान की किस्मों में बहु-रोग-रोधिता के महत्व की ओर ध्यान आकर्षित कराया, क्योंकि रोग-रोधी किस्मों की उपलब्धता से रासायनिक नियंत्रण की आवश्यकता न होगी और साथ ही वातावरण दूषित होने से बचेगा। जैव-नियंत्रण हेतु सुडोमोनास (*Pseudomonas* spp.) की ४ प्रथक (Isolates) हैदराबाद, मारुटेरू तथा चिपलिमा पर परखे गये, परन्तु पर्णच्छद अंगमारी के नियंत्रण में इनसे सफलता प्राप्त नहीं हुई (डी.आर.आर., १९९५बी)।

पिछले २-३ दशकों में पौध-संरक्षण पर विशेष दिया गया। ऐसा अनुभव किया गया, कि केवल कवकनाशियों का प्रयोग ही पर्याप्त नहीं है, परन्तु वातावरण-प्रदूषण से बचने हेतु ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना, जिससे पौधों पर इन कवक, जीवाणु एवं वाइरस का संक्रमण न हो अथवा कम हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ये भी वातावरण में रहें, परन्तु धान की फसल को इतनी हानि न बहुचाएँ कि उपज में कहा जा सकता है कि ये भी वातावरण में रहें, परन्तु धान की फसल को इतनी हानि न पहुँचाएँ कि उपज में अधिक गिरावट हो तथा अर्थिक लाभ पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े।

रोगों का विस्तार तापमान एवं अन्य जलवायु सम्बन्धी कारकों पर निर्भर करता है, साथ ही सस्य-क्रियाओं का भी प्रभाव पड़ता है। धान के मुख्य रोगों को उनके अभिकर्ता के आधार पर तीन भागों में बाटा जाता है

कवकीय (Fungal)

बदरा (Blast)

तनागलन (Stem rot)

तलगलन एवं बकाने (Foot rot & bakanae)

पर्णच्छद गलन (Sheath rot)

पर्णच्छद अंगमारी (Sheath blight)

भूरी-चित्ती (Brown spot)

आभासी कांगियारी (False smut)

उदबत्ता (Udbatta)

जीवाणुज (Bacterial)

जीवाणुज पत्ती अंगमारी (Bacterial leaf blight)

जीवाणुज पत्ती रेखा (Bacterial leaf streak)

वाइरस (Virus)

टुंग्रो (Tungro)

घासीय-वृद्धि रोग (Grassy stunt)

रोगों के लक्षण पौधों की पत्तियों, पर्णच्छद, पुष्पगुच्छ तथा दानों पर पाए जाते हैं। कुछ को पत्तियों पर पाई जाने वाली विक्षति (Lesion) से पहचाना जा सकता है। चित्र-७१ में इस प्रकार की विक्षति दर्शायी गयी है (आऊ, १९७३)। प्रायः जीवाणु ग्रसित छोटे पौधे झुलसकर मरते हैं अथवा पत्तियों के किनारों पर विक्षति होती है, जबकि वाइरस ग्रसित पौधे की अवरुद्ध बढ़वार तथा दौजियों की अधिकता एवं पत्तियों के रंग में बदलाव होता है। चक्रवर्ती (१९७८) ने धान के रोगों को पौधों के विभिन्न भागों पर संक्रमणता के आधार पर वर्गीकृत किया, जिससे फसल की उन विशेष अवस्थाओं पर ध्यान रखने से रोग प्रबंध अधिक प्रभावशाली हो सकेगा।

वर्गीकरण निम्न प्रकार है:

पौद की अवस्था (Seedling stage)

बदरा, भूरे धब्बे तलगलन एवं बकाने और जीवाणुज पत्ती अंगमारी।

पर्णच्छद एवं तने पर

बदरा, तनागलन, पर्णच्छद अंगमारी, तलगलन और पर्णच्छद गलन।

पत्तियाँ (Foliage)

बदरा, भूरा धब्बे (भूरी चित्ती), संकीर्ण पत्ती चित्ती, जीवाणुज पत्ती अंगमारी, जीवाणुज पत्ती रेखा और टुंग्रों।

दाने पर

बदरा, भूरे धब्बे, बंट (Bunt), आभासी कांगियारी और उदबत्ता।

धान के सघन क्षेत्रों में कुछ प्रतिवर्ष संक्रमण करते हैं तथा कभी-कभी ये उग्र रूप धारण कर लेते हैं, जिससे उपज में महत्वपूर्ण गिरावट होती है। अतः इन क्षेत्रों में रोग विशेष पर अधिक सतर्कता की आवश्यकता है, ऐसे क्षेत्रीय भाग निम्न हैं:

बदरा: कश्मीर घाटी, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, उत्तर प्रदेश एवं प. बंगाल का पहाड़ी क्षेत्र, असम और मेघालय, बिहार के रांची, पलामू एवं छोटा नागपुर कोरापुर (उड़ीसा), आन्ध्र प्रदेश की आराकू घाटी, कोर्ग (कर्नाटक), रत्नागिरी (महाराष्ट्र), मध्य प्रदेश के बस्तर और सरगुजा के भाग एवं व्यानन्द और कुट्टानन्द (केरल)।

भूरी चित्ती: उत्तर प्रदेश का तराई क्षेत्र, मध्य प्रदेश, प.बंगाल, असम, एवं तमिलनाडु के कुछ भाग, कर्नाटक एवं केरल के तटीय क्षेत्र ।

तनागलन: पंजाब, हरियाणा एवं तमिलनाडु ।

उदबत्ता: उड़ीसा का पहाड़ी क्षेत्र कोरापुर, महाराष्ट्र का कोंकण और आंध्र प्रदेश एवं कर्नाटक ।

रोग नियंत्रण के सिद्धांत:

रोग नियंत्रण से पूर्व उसकी प्रकृति, जीवन चक्र, संक्रमण की अवस्था तथा परपोषी पौधों की जानकारी आवश्यक है । इस ओर वैज्ञानिक लगातार प्रयत्नशील हैं, साथ ही सस्ते एवं प्रभावकारी रसायनों की खोज जारी है । आधुनिक विचार धारा के अनुसार फसल का पर्यावरण ऐसा हो जिसमें कवक, जीवाणु एवं वाइरस हानि न पहुंच सके । इसमें रोग रोधी किस्मों का विकास, परोक्ष में रोग विकास एवं वृद्धि के प्रतिकूल सस्यक्रियाएं अपनाएँ और सीधे रसायन (कवकनाशी) का रोग पर प्रहार सम्मिलित हैं । सामान्यतः रोग ग्रसित फसल को बचाते-बचाते ही किसी कारण से देरी हो जाती है, जिससे फसल की उपज में काफी कमी आ जाती है । अतः रोग पैदा न होने देना ही नियंत्रण का सही उपाय है ।

रोग नियंत्रण विधियों को मुख्य रूप से ४ भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है ।

- अपवर्जन (Exclusion)
- उन्मूलन (Eradication)
- संरक्षण (Protection)
- प्रतिरक्षीकरण (Immunization)

अपवर्जन:

बिना रोक टोक के खाद्यान्नों एवं खाद्य पदार्थों का अंतर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्राज्य स्तर पर आवागमन से काफी रोगों के प्रसारण में वृद्धि हुई है । इस प्रकार रोगग्रस्त क्षेत्रों से पौधे / वस्तुओं के आने को रोका जा सकता है, जिससे इनके विस्तार क्षेत्र में वृद्धि न हो । सभी देशों में संगरोध व्यवस्था (Quarantine Arrangements) की गई है, इसका पालन सबके हित में है । समय-समय पर इसके लिए विशेष कानून भी बनाए जाते रहें हैं । भारतवर्ष में १९१४ में संगरोध व्यवस्था लागू की गई तथा बाद में आवश्यकता अनुसार संशोधन होते रहे । विश्व में लगभग १५० देश इसका पालन करते हैं । रोग विस्तार के सभी माध्यमों जैसे भूमि, पानी एवं हवा के माध्यम से रोगकारी जीवाणु एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रवेश न कर सकें, ऐसा प्रयास किया जाता है ।

उन्मूलन:

कुछ परिस्थितियों में रोग ग्रसित पौधों का उन्मूलन ही आर्थिक दृष्टि से रोग नियंत्रण का लाभप्रद एवं आसान विधि होती है । इस विधि में ग्रसित क्षेत्र के पौधों या परपोषी फसल को ही नष्ट कर देना आर्थात् काटकर जला देना अथवा मिट्टी में दबा देना होता है । फसल की अनुपस्थिति में ये रोगजनक अन्य खरपतवार इत्यादि के पौधे को अपना आश्रय बनाकर रहते हैं । अतः ऐसे पौधों (परपोषी) को काट कर नष्ट करने से भी इनका जीवन चक्र टूट जाएगा, जिससे नए संक्रमण को रोका जा सकता है । बदरा रोग सामान्यतः धान से पहले सावंक पर रहता है ।

अतः इन खरपतवारों को नष्ट करने से मूल निवेश द्रव्य की मात्रा में कमी होगी और धान की फसल में होने वाले बदरा रोग के प्रकोप की संभावनाएं भी उसी अनुपात में कम होगी। इस प्रकार का प्रबंध भी उन्मूलन कहलाता है। फसल-चक्र अपनाने से भी इन रोगजनक जीवधारियों का जीवन चक्र टूटता है तथा रोग की सघनता में सार्थक कमी होती है, क्योंकि प्रत्येक रोग की अपनी विशेष परिस्थितिकी आवश्यकताएं होती हैं। इस प्रकार मृदा उत्पन्न रोग जीवधारियों पर आसानी से नियंत्रण पाया जा सकता है। खेत की सफाई एवं पहली फसल अवशेषों को नष्ट करना भी इसी ओर पहला कदम है। तनागलन ग्रसित फसल के अवशेषों को जलाना इसी विधि में आता है, इससे रोग संक्रमण घटेगा।

बीजों को बिजाई से पूर्व पारायुक्त कवकनाशी (Organo Mercurial Fungicide) से उपचारित करने पर बीज जनित रोगों से फसल को मुक्त किया जा सकता है। एमीसान से बीजों का उपचार करने पर बकाने रोग के लक्षण प्रकट होने की संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं अर्थात् बीज द्वारा संक्रमण नहीं हो पाता तथा फसल रोग-मुक्त रहती है।

संरक्षण:

इस प्रकार के प्रबंध का उद्देश्य फसल को ऐसा वातावरण प्रदान करना है, जिससे रोगजनक पौधों पर संक्रमण न कर सकें। इसके लिए रसायनों का प्रयोग और पर्यावरणीय-चालक (Manipulation) जैसी व्यवस्था की जाती है जैसे हवा रोधकों आदि का उपयोग। कवकनाशी का प्रयोग भी दोनों के बीच ऐसा वातावरण पैदा करता है। अतः समय-समय पर विभिन्न कवकनाशियों के छिड़काव भुरकाव की आवश्यकता होती है, जिससे फसल को सुरक्षा प्राप्त होती रहती है। कवकनाशी वे रसायन हैं, जो कवक एवं जीवाणु द्वारा उत्पन्न रोगों के नियंत्रण हेतु प्रयोग किए जाते हैं। कुछ ही रसायन ऐसे हैं जो वाइरस संक्रमण से पौधों को संरक्षण देने में समर्थ हैं।

रासायनिक पौध संरक्षक (कवकनाशी इत्यादि) भी सतह (Contact) एवं व्यवस्थित (Systematic) दोनों ही प्रकार से कार्य करते हैं। सतह संरक्षण में कवकनाशियों से बीज, पत्तियाँ एवं फल आदि को रोग से मुक्ति मिलती है, जबकि व्यवस्थित कवकनाशी परपोषी पौधे की शारीरिक क्रियाओं में प्रविष्ट होकर रोगजनकों (कवक एवं जीवाणु) के संक्रमण से पौधों की रक्षा करते हैं। इन कवकनाशियों को उनके रासायनिक गुणों के आधार पर भी जाना जाता है। मुख्यतः ये गंधक, तांबा, पारा, जैविक (Organic) तथा प्रति-जैविक (Antibiotic) आदि के ग्रुप में बाँटे जा सकते हैं।

प्रतिरक्षीकरण (रोधन):

पौधों में इस प्रकार की आंतरिक प्रतिरक्षा शक्ति उत्पन्न करना जिससे रोगजनक उन पर संक्रमण न कर सके, रोग नियंत्रण की प्रतिरक्षी विधि कहलाती है। वातावरण में रोग बीजाणु होने पर भी फसल के पौधों को प्रभावित न कर सके अर्थात् पौधों में रोग-रोधिता की शक्ति उत्पन्न करना ही इस सिद्धांत का मूलमंत्र है। रोग रोधी किस्मों का विकास, ऐसा ही एक कदम है। जैसे एच.के.आर. १२० किस्म पर जीवाणुज पत्ती अंगमारी का संक्रमण नहीं होता, जबकि पी.आर. १०६ इस रोग से ग्रसित हो जाती है। ऐसी ही किस्म विक्रमार्या, जो टुग्राँ वाइरस से प्रभावित

नहीं होती। कलिता आदि (१९९६) ने आई.आर.५०,पी.टी.बी. १८ एवं साकेत ४ किस्मों में एक अंक माप के साथ टुंगो वाइरस के प्रति-रोधिता पायी। इस प्रकार मुख्य बीमारियों के प्रति बहुत सी प्रतिरोधी किस्मों का विकास कर लिया गया है। इस प्रकार की रोग निरोधकता, रोग उत्पन्न होने से पूर्व कवकनाशियों के द्वारा बीजोपचार, पौध उपचार आदि से भी प्राप्त की जा सकती है। रासायनिक उपचार संरक्षण विधि में भी कवकनाशियों का प्रयोग करते हैं, जिनका अनुभव के आधार पर रोग की संभावनाओं के समय पर कवकनाशी द्वारा पौधों का रोगों से बचाव करते हैं, परन्तु प्रतिरक्षक विधि में रोग आक्रमण से पूर्व किया गया उपचार ही आता है।

धान की फसल को हानि पहुंचाने वाले मुख्य रोगों के संबंध में पर्याप्त अनुसंधान कार्य हुए हैं रोगों का विवरण, कारक, लक्षण तथा उनसे धान को बचाने हेतु तकनीक सुझाई गई हैं, जो निम्न हैं:

बदरा (Blast)

पर्णच्छद अंगमारी (Sheath Blight)

तलगलन एवं बकाने (Foot rot and Bakanae)

बंट (Bunt)

पर्णच्छद गलन (Sheath rot)

आभासी कांगियारी (False Smut)

तना गलन (Stem rot)

भूरी चित्ती (Brown Spot)

उदबत्ता (Udbatta)

पत्ती कंडुवा (Leaf smut)

जीवाणु पत्ती अंगमारी (Bacterial Leaf Blight)

बदरा (Blast)

कारक जीव: पिरीकुलेरिया ग्रीस्या (Pyricularia Grisea)

विवरण: यह रोग धान उगाने वाले सभी देशों में पाया जाता है एवं पौध संरक्षण कार्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारत में बटलर (१९१३) ने सर्वप्रथम इस रोग को धान की फसल पर देखा। नीची भूमियों की तुलना में शुष्क परिस्थितियों में इसका प्रकोप ज्यादा होता है। अनुकूल वातावरण में यह रोग फसल को पूर्णतः नष्ट कर सकता है। साधारणतः इससे १५-२०% की उपज में कमी होती देखी गई है। (देवदत्त, १९९६) ने अपने अध्ययन में सम्मिलित भू-भागों पर १० से ४५% की उपज में हानि अनुमानित की। दोदान आदि (१९८७) ने हरियाणा के पूर्वी क्षेत्रों में ग्रीवा-बदरा का प्रकोप २०-७०% अंकित किया, जिससे बासमती धान की उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। यह रोग पिरीकुलेरिया ग्रीस्या (Pyricularia Grisea) माइसीलियम (Mycellium) द्वारा होता है। पहले इस कवक

को पि. ओराइजी कहते थे । रोग -जनक के कवकजाल एवं कोनिडियम (Conidium) मौसम के अनुसार लम्बी अवधि तक जीवित रह सकते हैं । इनके सूखे पुआल में १ वर्ष तक तथा गांठ पर २ वर्षों तक जीवित रहने की फसल पर जाता है तथा रोग फैलाता है । अशुयामा (१९६५) ने कई प्रकार की घासों को बदरा रोग जनक कवक के प्रति सुग्राही पाया । दक्षिणी भारत में लगातार धान उगाने से, रोग का निवेश-द्रव्य एक फसल से दूसरी पर आसानी से स्थानांतरित हो जाता है । एक बार लक्षण उत्पन्न होने पर, इन विक्षतों से कवक के कोनिडियम अनुकूल वातावरण में अधिक मात्रा में बनते हैं तथा वायु द्वारा तेजी से फैलते हैं । बीज, पुआल तथा सिंचाई की नालियों से भी कवक कोनिडिया रोग का संचरण करते हैं ।

लक्षण:रोग के विशेष लक्षण पत्तियों पर दिखाई देते हैं, परन्तु पर्णच्छद, पुष्पगुच्छ, गांठों तथा दाने के छिलके पर भी इसका आक्रमण पाया गया है, परन्तु कवक का स्पष्ट रूप से तीन अंगों पर अधिक संक्रमण होता है, इसी आधार परक उन्हें संबन्धित नाम से जाना जाता है । ये अंग है पत्ती, गांठ एवं ग्रीवा । पत्ती -बदरा पौद अवस्था से फूल आने तक रोगग्राही किस्मों में पाया जाता है । पत्तियों पर छोटा धब्बा बनता है, जो बढ़कर कई सेंटीमीटर लम्बा तथा लगभग १ सें.मी. चौड़ा कजराई आंखों के समान दिखाई देता है । क्षतस्थल के बीच का भाग धूसर रंग तथा परिधि पर गहरे भूरे रंग की पतली पट्टी दिखाई देती है । रोग ग्रसित पत्ती पर क्षतस्थल एवं स्वस्थ पत्ती को तुलनात्मक दृष्टि से दिखाया गया है, जिससे खेत में रोग आसानी से पहचाना जा सके । अनुकूल वातावरण में कई क्षतस्थल बढ़कर आपस में मिल जाते हैं, परिणामस्वरूप पत्तियां झुलसकर सूख जाती है । पौद की पत्ती सूखने की विभिन्न अवस्थाएं दर्शायी गई हैं । दौजी की गांठों पर कवक के आक्रमण से भूरे धब्बे बनते हैं, जो गांठ को चारो ओर से घेर लेते हैं, प्रायः दौजी यहाँ से टूट जाती है । पुष्प गुच्छ के निचले डंठल में जब रोग का संक्रमण होता है, तब बालियों में दाने नहीं होते तथा पुष्प गुच्छ सफेद सा हो जाता है और ग्रीवा काले से रंग की हो जाती है । परागण क्रिया के बाद रोग का प्रकोप होने पर दानों के भार में काफी कमी आ जाती है तथा खाली दानों की संख्या बढ़ जाती है । बदरा रोग से ग्रसित एवं तना छेदक से प्रभावित बालियां दर्शायी गई हैं । बदरा रोग ग्रस्त बाली पर नीचे की ओर क्षतस्थल स्पष्ट दीखते हैं, जबकि दूसरी बाली में यह भाग सामान्य है, अतः धान के खेत में स्पष्टरूप से दोनों प्रकार की क्षतिग्रस्त बालियां पहचानी जा सकती हैं ।



पत्ती बदरा

गांठ बदरा

ग्रीवा बदरा

नियंत्रण:

- क्षेत्र हेतु संस्तुत रोग रोधी किस्म का प्रमाणित बीज प्रयोग करें ।
- खेत में 5+2 सें.मी. पानी रखें । रोग प्रकोप के समय खेत को सूखा न रखें ।
- संतुलित उर्वरकों का प्रयोग करें, नाइट्रोजन को तीन बार दें ।

- फसल स्वच्छता, सिंचाई की नालियाँ घास रहित होना, फसल -चक्र, प्रथम फसल के अवशेषों को जलाना आदि उपाय अपनाना ।
- फसल पर रोग के लक्षण प्रकट होने पर ०.१ प्रतिशत हिनोसान अथवा ०.१ प्रतिशत बावस्टीन अथवा ०.०६ प्रतिशत बीम का छिड़काव करें ।

तलगलन एवं बकाने (Foot rot and Bakanae)

कारक: जिबरेला फ्यूजीकुरेई (Gibberella fujikurai)

विवरण: यह रोग भारतवर्ष में कहीं-कहीं पर पाया जाता है, जो जिबरेला फ्यूजीकुरेई (Gibberella fujikurai) की अपूर्णावस्था फ्यूजेरियम मौनिलिफार्मे (Fusarium moniliforme) से होता है । पौधों में जिब्रेलिक अम्ल (Gibberellic Acid) हारमोन की मात्रा बढ़ने के समान लक्षण प्रकट होते हैं अर्थात् पौधा काफी लम्बा हो जाता है । यह मुख्यतः बीज-जनित रोग है, परन्तु मिट्टी द्वारा भी रोग का सक्रमण होते पाया गया । कवक पराग-कोश और वार्तिकाग्र (Stigma) में अंतराकोशिका (Intercellular) से होकर बढ़ता है और अंडाशय में पहुंच जाता है । पुष्प गुच्छ निकलने के कुछ दिनों बाद फूलों द्वारा संक्रमण नहीं होता । जब ऐसे रोगी बीज पौदशाला में बोये जाते हैं, तब कवक सर्वांगी हो जाता है तथा बकाने के लक्षण परदर्शित करता है। रोग वृद्धि हेतु अनुकूलतम तापमान २५-३० डिग्री से. पाया गया । रोग का प्रकोप बलुई दोमट मिट्टी में मटियार दोमट की अपेक्षा अधिक होता है ।

लक्षण:

पौदशाला में पीले, पतले तथा असाधारण लम्बे पौधे स्वस्थ पौधों के साथ-साथ दिखाई देते हैं । रोग की उग्र दशा में ये पौधे रोपाई से पूर्व ही मर जाते हैं । रोपाई के बाद खेत में भी पौधे ऐसे ही पीले, पतले तथा लम्बे हो जाते हैं । रोगी पौधों की सभी दौजियां पीली हरी सी ही निकलती है। अधिकतर पौधे पुष्प गुच्छ निकलने एवं पकने से पहले ही मर जाते हैं। रोगी पौधों के निचले भागों पर बने कोनिडिया हवा द्वारा स्वस्थ पौधों के पुष्प पहुंचकर फूलों पर संक्रमण करते हैं तथा रोगग्रस्त दाने बनते हैं, जो अंकुरण बाद रोग के लक्षण प्रकट करते हैं । चित्र- में इसी प्रकार के पतले लम्बे पौधे तथा मारता हुआ पौधा दर्शाया गया है । उच्च भूमि में धान के पौधों का बिना लम्बा हुए ही तलगलन/ पदगलन के लक्षण पाए गये हैं । दौजियाँ निकलने या बालियां आने के बाद नमी युक्त वातावरण में तने के निचले भागों पर सफेद से गुलाबी रंग का कवक दिखाई देता है, जो क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ता है । मौसम के अन्त में निचले पर्णच्छद का रंग नीला और बाद में काला हो जाता है, जिन पर छोटे-छोटे काले बिखरे हुए पेरीथीसियम बनते हैं ।



नियंत्रण:

दोदान आदि (१९९४) ने बावस्टीन द्वारा बीज उपचार (०.१ प्रतिशत घोल में ३६ घंटे बीज भिगोने) को बकाने के नियंत्रण के लिए अत्याधिक प्रभावकारी (८१.३ प्रतिशत नियंत्रण) पाया, इन्होंने तरावडी बासमती किस्म पर उपलब्ध सात कवकनाशियों को परखा था, जिनमें उक्त उपचार सर्वोत्तम पाया गया। कुराओं (१९८१) ने ०.१% सेरेसान के घोल में ४८ घंटे तथा इसके ०.२% घोल में ३६ घंटे बीज भिगोने पर तलगलन रोग का पूर्ण नियंत्रण पाया। रोगग्रस्त क्षेत्रों में निम्न उपाय अपनाये:

- सेरेसान अथवा बावस्टीन के ०.१ प्रतिशत घोल में बीज को ३६ घंटे भिगोयें तथा बाद में बिजाई से पूर्व अंकुरित करें।
- एमीसान (Emisan) ५० ग्राम एवं १०० ली. पानी में १ क्विंटल बीज को २४ घंटे भिगोयें तथा अंकुरित होने पर बिजाई करें, इससे ९६ से १०० प्रतिशत तक नियंत्रण हो जाता है।
- रोपाई के समय रोगग्रस्त पौधों को न रोपें और उन्हें अलग कर दें।

पर्णच्छद गलन (Sheath rot)

कारक जीव : एक्रो सिलीड्रियम ओराइजी (*Acrocyldrium oryzae*)

विवरण:

पर्णच्छद गलन सर्वप्रथम १९२२ में सवादा में ताइवान में रिकॉर्ड किया गया था. अब यह भारतीय उपमाहद्वीप में बहुत भी आम रोग हो गया है जो धान की फसल को नुकसान पहुंचता है. इस रोग का कारक जीव कवक बाहरी तथा भीतरी बिज की दोनों सतहों पर होते हैं. खरपतवार एचिनोकलोवा कोलोना इस रोग का वैकल्पिक होस्ट होता है. इस रोग के लिए २०-३० डिग्री सेन्टीग्रेड तापमान, उच्च वर्षा, आद्रता तथा ठंडी रात एवं नत्रजन ली अधिक मात्रा इत्यादि परस्थितिया इसके लिए अनुकूल होती हैं.

लक्षण:

कवक मुख्यतः उपरी पर्णच्छद को नुकसान पहुंचाता है तथा नयी बालियों को बनने से रोकता है . भूरे धब्बे भी पर्णच्छद तथा कल्लो पर पाए जाते हैं . शुरुआत में धब्बे अनियमित ०.५-१.५ सेमी लम्बे किनारे पर भूरे जो की बाद में बड़े तथा पुरे पर्णच्छद पर फैल जाता है. जब ऊपर के पर्णच्छद इससे पूर्णत प्रभावित हो जाते हैं तब बालिया या तो निकलती नहीं है यदि निकलती है तो दाने नहीं बनते हैं.

नियंत्रण:

- प्रतिरोधी किस्मों का चुनाव करे जैसे तणुकन , रामतुलसी, मंसूरी विष्णुभोग तथा कालानमक इत्यादि
- नत्रजन का प्रयोग तिन बार करना चाहिए इसके अलावा पोटैसियम का प्रयोग दो बार करना चाहिए
- बेनलेट द्वारा बीज उपचार करना चाहिए
- कवकनासी बेनलेट तथा डेकोनिल की ०.२ % मात्रा का १० दिन के अंतर पर छिडकाव करे

बंट (Bunt)

कारक जीव:

टिलेटिया वरक्लेयाना (Tilletia barclayana)

विवरण:

इसे करनेल स्मट के नाम से भी जाना जाता है. इस रोग को सर्वप्रथम बटलर ने १९१८ मजे पहचाना था. इस समय बंट व्यापक रूप से असम, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, कर्नाटक, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, और आंध्र प्रदेश में पाया जाता है.

लक्षण:

दानो पर शुरुआत में हलके छोटे से काले घाव हो जाते हैं और रोग के व्यापक होने पर चोंच के सामान बाहरी वृद्धि होती है जो सम्पूर्ण ग्लुम को नस्ट कर देती है. कभी-कभी सम्पूर्ण दाना काले पॉवर में परिवर्तित हो जाते हैं.

नियंत्रण :

- प्रतिरोधी किस्मों का चुनाव करे.
- रोग मुक्त बीजा का चुनाव करे.
- उर्वरकों का उचित प्रयोग करे
- वेनोमाइल , मैनेब तथा प्लांट वैक्स इत्यादि फंफूदी नासी का उचित मात्र में प्रयोग करे.

तना गलन (Stem rot)

कारक:

मैग्नापोर्थि सेल्विनी (Magnaporthe salvinii)

विवरण:

यह दक्षिण पूर्वी एशिया के उन सभी क्षेत्रों में पाया जाता है, जहाँ धान की वर्ष भर लगातार खेती होती है । फसल की कटाई के बाद भी खेत में बचे हुए तने के भीतर स्कलेरोशियम पर्याप्त मात्रा में रहते हैं । ये प्रतिकूल वातावरण के लिए काफी सहनशील होते हैं और दूसरे वर्ष धान की रोपाई तक पौधे के अवशेषों में जीवित रहते हैं । वर्षा होने / पानी मिलने पर ये स्कलेरोशियम, पानी में तैरने लगते हैं और रोपे गये पौधों के पर्णच्छद के पास जाकर संक्रमण करते हैं । प्रायः रोग उन खेतों में अधिक होता है जहाँ पानी काफी समय तक ठहरता है तथा जहाँ जल निकास सुविधा अच्छी नहीं है । तना-छेदक कीट से ग्रस्त पौधे भी इस रोग के प्रति अधिक ग्राही हो जाते हैं ।

लक्षण:

इस रोग का मुख्य लक्षण भूरे काले रंग के धब्बों के रूप में रोपाई के २-३ सप्ताह बाद तना तथा पर्णच्छद पर पानी की सतह के पास दिखने लगता है, जो कई सें.मी. तक ऊपर-नीचे फैल जाता है । रोगी पौधे के तने को चीरने पर कपासी-सलेटी रंग के कवक जाल में काले-काले स्कलेरोशियम पाए जाते हैं । कभी-कभी ये लक्षण निचली एक या दो पोरियों को छोड़कर ऊपर द्वितीयक संक्रमण से प्रकट होते हैं । जिन खेतों में पानी देर तक ठहरता हो, उनमें पर्णच्छद पर लकीरों में छोटे-छोटे काले पेरीथोसियम बनते हैं । तना सड़ जाता है, जो खींचने पर आसानी से टूट कर उखड़ जाता है । नीचे से २-३ गांठों पर या पानी से ऊपर आपस्थानिक जड़े भी निकलती हैं । तनागलन से रोग ग्रसित पौधे आसानी से गिर जाते हैं ।



नियंत्रण:

नाइट्रोजन उर्वरक के साथ पोटाश उर्वरक देने से रोग-संक्रमण कम पाया गया है। सिंह आदि (१९८८) ने अपने अध्ययन में पाया कि कार्बेन्डाज़िम (Carbendazim) अथवा थायोफेनेटमिथायिल (Thiophanatemethyl) के 0.1 प्रतिशत घोल का २ बार अर्थात् रोग लक्षण प्रकट होने के आरंभ तथा पुष्पन के समय फसल पर छिड़काव करने से रोग नियंत्रण में आ जाता है। मुख्य रूप से निम्न सस्य क्रियाएं लाभकारी होती हैं

- कटाई के बाद रोगग्रस्त फसल के अवशेषों को जला दें एवं ग्रीष्म में गहरी जुताई करें। रोग-रोधी किस्म का चुनाव करें।
- धान के खेत में अधिक समय तक पानी न ठहरने दें, समय-समय पर इसे निकालते रहें।

भूरी चित्ती (Brown Spot)

कारक:

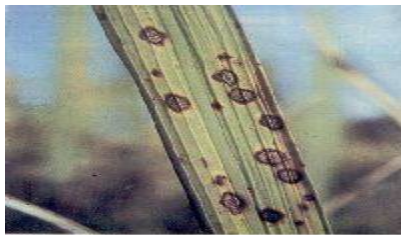
हेल्मिन्थोस्पोरियम ओराईज़ी (Helminthosporium oryzae, Breda de Haan)

विवरण:

यह रोग पौधे के जीवन की सभी अवस्थाओं पर संक्रमण करता है। पोटाश का असंतुलन अथवा कमी वाले क्षेत्रों, क्षारीय भूमियों तथा नाइट्रोजन के निम्न स्तर पर पौधों में रोग-ग्राहिता बढ़ जाती है। कवक-जाल तथा कोनिडियम दोनों ही प्रतिकूल अवस्था में काफी दिनों तक जीवित रह सकते हैं। अतः कवक रोगी-पौधों के अवशेषों एवं बीजों पर जीवित रहता है। कोनिडियम के दोनों ओर से जनन नलिका (Germ Tube) निकलती है, जिसमें से पुनः एक पतली संक्रमण नलिका निकलती है, जो सीधे उप त्वचा (Cuticle) तथा बाह्य त्वचा (Epidermis) को बेधती है। जनन नलिका सीधे रंध्रों द्वारा भी पत्तियों में प्रविष्ट हो सकती है तथा २४ घंटे के अन्दर लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं।

लक्षण:

रोग के लक्षण प्राकुर-चोल (Coleoptile), पत्तियों, पर्णच्छद तथा तूष (Glumes) पर पाए जाते हैं। धब्बा, छोटा, भूरा तथा गोलाई लिए होता है। यह बहुत छोटी बिंदी से लेकर गोल आंख के आकार का गाढ़ा भूरा या बैंगनी-भूरा होता है परन्तु बीच का भाग पीलापन लिए गंदा सफेद धूसर रंग का होता है। धब्बे आपस में मिलाकर बड़े हो जाते हैं तथा पत्तियों को सुखा देते हैं। उग्र संक्रमण में बालियाँ बाहर नहीं निकल पाती।



नियंत्रण:

अखिल भारतीय समन्वित धान सुधार परियोजना के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों पर परीक्षण के बाद निम्न प्रायोगिक सन्ततियों को रोग रोधी पाया गया है:

संभ्रांत संतति	पितृगण
IET 13171	IET 7613/VL 12
IET 13621	Heera/Lakhi
IET 13712	Saket/UPR 759-20-17
IET 13619	Tulasi/ARC 10372

इनमें से एक या एक से अधिक सन्ततियों की अन्य गुणों में उपयुक्त पाए जाने पर रोग ग्रस्त क्षेत्रों में उगाने हेतु संस्तुती की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त किस्म जी एस ५३१, मॉरगक्यान (Morangkayan), सुव्योन (Suwean339), ताईचुन सेन (Taichung Sen), अकियुडाका (Akiyudaka), टी-टीप (Te tep), शिमोकिता (Shimokita) एवं आई.आर.६४ को संकरण कार्य में रोग निरोधक दाता के रूप में प्रजनन कार्य हेतु उपयोग किया जा सकता है (डी.आर.आर. १९९५ए)। कौर आदि (१९७९) ने पाया कि मैंगनीशियम सल्फेट का १० पी.पी.एम. और फेरिक क्लोराइड का २.५ पी.पी.एम. घोल से जड़ों के उपचार करने पर भूरी चित्ती रोग के संक्रमण में सार्थक गिरावट होती है। रोग नियंत्रण हेतु सुझाव निम्न है:

- क्षेत्र के अनुसार रोग रोधी किस्मों का चुनाव करें।
- बीज जनित संक्रमण रोकने हेतु २.५ ग्राम कवकनाशी (सरेसान या एग्रोसान या थिरम) से प्रति कि.ग्रा. बीज उपचारित करें।

- जहाँ रोग प्रतिवर्ष उग्र रूप में प्रकट होता है वहाँ रोपाई के ४-६ सप्ताह बाद से आरम्भ कर प्रत्येक १२-१५ दिन के अंतर में ०.२५ प्रतिशत जिनेब अथवा डाईथेन एम ४५ के ३-४ छिड़काव करें।
- संतुलित उर्वरकों का प्रयोग करें।
- कवकग्रसित पौधों के अवशेषों एवं वैकल्पिक आश्रयदाता घासों को नष्ट करें।

आभासी कांगियारी (False Smut)

कारक:

अष्टिलेजिनाइडिया वाइरेन्स (*Ustilaginoidea virens* (Cke.)Tok.)

विवरण:

सर्वप्रथम दक्षिण भारत में वर्ष १८७८ में यह रोग पाया गया था। यह समुद्र के किनारें तथा पर्वतीय क्षेत्रों में अधिक पाया जाता है, परन्तु बिहार, म.प्र. एवं उड़ीसा में भी देखा गया है। यह रोग अष्टिलेजिनाइडिया वाइरेन्स (*Ustilaginoidea virens* (Cke.)Tok.) नामक कवक द्वारा फैलता है। कोनिडियम पानी में अंकुरित होकर ऐमेरोबीजाणु (Ameospores) बनाते हैं। प्रत्येक पीली, हरी काली गांठ (कूटरूप, Pseudomorph) पर १ से ३ वास्तविक रक्लेरोशिया बनते हैं जो पहले कोनिडियम के ढेर से ढके रहते हैं, परन्तु जब कोनिडियम का प्रकीर्णन हो जाता है, तब ये स्पष्ट दिखाई देते हैं, और आसानी से मिट्टी पर गिर जाते हैं, जिससे मिट्टी की ऊपरी सतह काली सी दीखती है। मुख्य रूप से यह मृदा-जनित पौध-रोग है। प्राथमिक निवेश द्रव्य ग्रीष्मातिजीवी कूटरूप से होता है। जल्दी पकने वाली किस्मों के लिए द्वितीयक निवेश द्रव्य संक्रमण स्रोत का काम करते हैं। कोनिडियम के लिए अनुकूलतम तापमान २८ डिग्री से. तथा ९८ प्रतिशत आर्द्रता उपयुक्त है। अधिक वर्षा एवं नमी वाले वर्षों में यह रोग ज्यादा होता है। हिमाचल प्रदेश में परागण क्रिया के समय तापमान २४ से ३० डिग्री से. सापेक्ष आर्द्रता ९० प्रतिशत से अधिक तथा मेघाच्छादित आकाश हो, तब इस रोग के बढ़ने की सम्भावनाएं अधिक हो जाती हैं (सुधा आदि, १९९३)। अग्रवाल आदि (१९९०) ने रायपुर में अपने १९८५ से ८९ के अध्ययन में पाया कि फूल आने के समय वर्षा के दिनों का रोग की सघनता से सीधा घनात्मक सम्बन्ध है। इन्होंने यह भी पाया कि तापमान, आर्द्रता एवं वर्षा की मात्रा का रोग से सीधा सम्बन्ध नहीं है। दोदान एवं सिंह (१९९५) में आरम्भिक रोपाई (१० एवं २५ जून) में रोग प्रकोप की तीव्रता (Disease severity) १३.९ शए १७.६ अनुमानित की एवं रोपाई में देरी से रोग प्रकोप कम होते पाया, यहाँ तक कि १० अगस्त को ०.३ प्रतिशत ही रह गया। देर से रोपाई के कारण उपज में अन्यथा भारी गिरावट होती है, अतः इस गुण का लाभ फसल-उत्पादन में संभव नहीं है। आहुजा आदि (१९९४) ने पाया कि उर्वरा स्तर बढ़ाने पर रोग की सघनता बढ़ी है, साथ ही सीधे बिजाई की तुलना में रोपित धान में अपेक्षाकृत रोग अधिक होता है।

लक्षण:

रोग के लक्षण बालियों के निकलने के बाद ही दृष्टिगोचर होते हैं। रोग-ग्रस्त शूकिका (स्पाइकलेट) पहले पीले से लेकर संतरे के रंग का, बाद में जैतूनी-हरा हो जाता है, जो आकार में धान की सामान्य शूकिकाओं से दुगुना बड़ा होता है। कवक का यह हरा फलन कड़ा, आभासी मृदूतक (Pseudoparenchyma) से बना होता है, जो तीन बीजाणु युक्त (Sporiferous) सतहों से घिरा रहता है। जिसमें सबसे अंदर का सफेद पीला, बीच का केसरिया पीला तथा सबसे ऊपर जैतूनी काला होता है। इस प्रकार अधिक संख्या में बीजाणु चूर्ण रूप में होते हैं। यह बीजाणु-चूर्ण हवा द्वारा वितरित होकर स्वस्थ पुष्पो पर पहुंचते हैं और उन्हें संक्रमित करते हैं। बालियों में कुछ ही शूकिकाएं रोगग्रस्त होती हैं, रोग-ग्रस्त शूकिका के ऊपर एवं नीचे के दानों के भार में भी कमी हो जाती है।



False Smut

नियंत्रण:

रोग-रोधी किस्में उगाना सर्वोत्तम उपचार है, परन्तु व्यापारिक स्तर की किसी भी किस्म में रोग-रोधिता नहीं पाई गई है। ढिंडसा आदि (१९९०) ने किस्म पी.आर.१०३ में इस रोग से उपज में सापेक्षिक रूप से कम गिरावट पाई (सारणी १०.६)। इन्होंने यह भी पाया कि इससे कुछ पुष्प सीधे काली गोली बनकर प्रत्यक्ष रूप से तथा अन्य तने का भार कम होने पर अप्रत्यक्ष रूप से उपज में गिरावट का कारण होते हैं। सुधा आदि (१९९३) ने धान की ३४ किस्मों को परखा तथा पूसा एन.आर.७५०-२६, वी.आर. ४१२ एवं वी.आर. ५२४ पर रोग संक्रमणता का स्तर १ प्रतिशत अंकित किया, जबकि ४ अन्य किस्मों में ५ से २५ प्रतिशत रोग ग्राहित अंकित की गई। इस रोग के नियंत्रण हेतु निम्न उपाय सुझाए गए हैं:

- अत्याधिक रोग-ग्रस्त बालियाँ सावधानी से निकालकर जलाएं, आभासी मृदूतक मिट्टी पर न गिरने पाएँ।
- रोग-रोधी अथवा कम प्रभावित किस्में उगाएं।
- सस्य क्रियाओं को सावधानीपूर्वक समय पर सम्पन्न करें।
- ब्लाइटोक्स (कापर आक्सीक्लोराइड) @ 1.25 कि.ग्रा. प्रति हैक्टर का छिड़काव ५० प्रतिशत बालियाँ आने पर करें।

उदबत्ता (Udbatta)

कारक जीव: इफेलिस ओराईजी (*Ephelis oryzae*)

विवरण:

भारतवर्ष में यह रोग जम्मू कश्मीर, बिहार, उड़ीसा के पर्वतीय भाग, मैसूर तथा महाराष्ट्र में पाया जाता है। उदबत्ता इफेलिस ओराईजी (*Ephelis oryzae*) कवक द्वारा होता है। आभासी स्कलेरोशियम के उपरी सतह पर पिक्निडिया (*Pycnidia*) बनते हैं, जो खुले रहते हैं। पहले ये भूरे, बाद में काले, नाखरूप होते हैं। कवक आंतरिक बीजोड है। अतः ऐसे रोगग्रस्त बीज बोने से कवक पौधों में सर्वांगी हो जाता है, जिससे रोग को बालियाँ निसरने से पहले नहीं पहचाना जा सकता है। ठंडी जलवायु कवक के जीवन चक्र को पूरा करने तथा पौधों पर संक्रमण बढ़ाने में सहायक होती है।

लक्षण:

रोगी पौधों से सामान्य बालियों स्थान पर भूरापन लिए सफेद, सीधी बेलनाकार छड़ निकलती दिखाई देती है। पहले यह बन्ध्य पुष्पगुच्छ सफेद कवकजाल से ढकी रहती है और बाद में स्कलेरोशिया की तरह कड़ी हो जाती है। इस पर भूरे से काले बिंदुओं के समान मस्से (*Warts*) बने हैं। रोग-ग्रस्त बालियों में दाना नहीं बनता है। कभी-कभी ध्वज पत्ती के ऐंठन से भी रोग ग्रसित पौधा पहचाना जाता है।



नियंत्रण:

मोहते (१९६४) ने सूर्य की धूप से बीज को उपचारित करने से रोग नियंत्रण में आशाजनक सफलता पाई। रोग रोधी किस्मों का चुनाव क्षेत्रीय स्तर पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त बीज को ५० से ५४ डिग्री से. गर्म पानी में १० मिनट तक रखने से बीज में उपस्थित कवक को नष्ट किया जा सकता है।

पत्ती कंडुवा (Leaf smut)

करक जीव : इटाइलोमा ओराइजी (*Entyloma oryzae*)

विवरण:

पत्ती कंडुवा एक लघु रोग है जो कि कम आर्थिक महत्व कि है.

लक्षण

इस रोग के लक्षण पत्तियों की ब्लेड पर काले छोटे धब्बों के रूप में दिखाई पड़ते हैं जिनका आकार ०.५-४ मिमी लम्बाई तथा ०.२-०.३ मिमी चौड़े होते हैं. धान की सुग्राही प्रजातियों में इस रोग के लक्षण पुरानी पत्तियों के सम्पूर्ण पृष्ठ पर दिखलाई पड़ते हैं.

नियंत्रण:

प्रतिरोधी किस्मों का चुनाव करे. जैसे एन एस जे -५२ खरपतवारो का उचित नियंत्रण करे

पर्णच्छद अंगमारी (Sheath Blight)

कारक जीव: राइजोक्टोनिया सोलेनी (*Rhizoctonia solani*)

विवरण:

धान का यह रोग भारतवर्ष के विभिन्न भागों में तथा विशेषकर बौनी किस्मों पर पाया जाता है अर्थात् फसल निवेश के उच्च स्तर पर रोग संक्रमण की संभावनाएं अधिक होती हैं। इस कवक से अन्य फसलें जैसे अरहर, सें, मक्का, ज्वार, एवं मूंग आदि भी प्रभावित होती हैं। यही नहीं घास वाले खरपतवारों एवं जल कुम्भी पर भी यह संक्रमण करता है और खेत में धान की फसल न होने पर भी अपना अस्तित्व बनाए रखता है। स्कलेरोशिया (*Sclerotia*) जीवित अवस्था में पहली फसल के अवशेषों पर रहते हैं और वहाँ से मुख्य फसल पर संक्रमण करते हैं। कवक के स्कलेरोशिया आसानी से अलग होकर भूमि एवं पानी पर गिरते हैं तथा सम्पर्क में आने वाले धान एवं रोग ग्राही परपोषी पर पहुंच जाते हैं। अनुकूल वातावरण मिलने पर यह अंकुरित होकर संक्रमण करते हैं। स्कलेरोशिया मिट्टी पर भी अंकुरित होते हैं तथा भ्रूण नलिका से संपर्क में आने वाले धान के पौधे संक्रमित हो जाते हैं।

लक्षण:

प्रायः रोग का आक्रमण बालियाँ निकलते समय होता है। पानी अथवा भूमि की सतह के पास पर्णच्छ पर रोग के प्रमुख लक्षण प्रकट होते हैं। पर्णच्छद पर २ या ३ सें.मी. लम्बे हरे भूरे क्षतस्थल बनते हैं, जो बाद में पुआल के रंग के हो जाते हैं। यह धब्बा भूरी या बैंगनी भूरी पतली पट्टी से घिरा रहता है। बाद में

ये क्षतस्थल बढ़कर तने को चारो ओर से घेर लेता है । अनुकूल वातावरण में क्षतस्थलों पर कवक जाल स्पष्ट दिखते हैं, जिन पर चार मि.मी. लम्बे अर्ध अथवा पूर्ण गोलाकार भूरे काले रंग के स्कलेरोशिया बनते हैं । पत्तियों पर क्षतस्थल असमान आकृति में होते हैं । दत्त (१९८६) ने रोग ग्राही किस्मों का चुनाव, अधिक आयु की पौद, कम अवधि की किस्में, अगेती एवं सघन रोपाई, नाइट्रोजन का उच्च स्तर, पिछली फसलों के अवशेषों की उपस्थिति तथा सापेक्ष आर्द्रता >90 प्रतिशत, तापमान 250o से 30o से. आदि कारकों को रोग वृद्धि के लिए उत्तरदायी पाया । अधिक एवं लम्बी अवधि तक ऑस गिरना भी इस रोग के विस्तार में सहायक है ।



नियंत्रण:

- सस्य क्रियाओं को उचित समय पर सम्पन्न करना तथा पिछली फसलों के अवशेषों को जलाना ।
- आवश्यकता अनुसार नाइट्रोजन उर्वरकों का उपयोग और रोग प्रकट होने पर टाप-डैसिंग को कुछ समय हेतु स्थागित करना ।
- घास कुल के खरपतवारों एवं निकट जलकुंभी को नष्ट करना ।
- पुष्पगुच्छ प्रारम्भिक अवस्था से फूल आने तक १० प्रतिशत दौजी पर लक्षण दीखते ही ०.१ प्रतिशत बावस्टीन का पर्णाय छिड़काव करना ।
- खरपतवारनाशी प्रोपेनिल (Propanil) के उपयोग से भी पर्याप्त सहायता मिलती है, क्योंकि इससे फसल में खरपतवार विनिष्ट होते हैं और कवक-संक्रमण से फसल बचती है ।